

अहंकार से स्वाभिमान की यात्रा विचार ही बंधन : विचार ही स्वतंत्रता विचारों को सही दिशा आवश्यक

जो स्वयं को मुक्त मानता है, वह मुक्त होने लगता है; जो स्वयं को बंधा मानता है, वह बंधन को और पुष्ट करता है।

एको द्रष्टासि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।

अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम्॥

अहं कर्तेत्यहं मानमहाकृष्णाहिदंशितः।

नाहं कर्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव॥

अष्टावक्र का यह वचन हमें भीतर तक झकझोर देता है। वे कहते हैं कि हम स्वभाव से ही मुक्त हैं, परंतु हमारी सबसे बड़ी भूल यह है कि हम स्वयं को बंधा हुआ मान बैठे हैं। यही मान्यता हमारा बंधन बन जाती है। वास्तव में बंधन बाहर नहीं है, बंधन भीतर है। संसार ने हमें उतना नहीं बांधा, जितना हमारी अपनी धारणाओं ने बांध रखा है। और उन धारणाओं में सबसे प्रबल है अहंकार, यह भाव कि 'मैं कर रहा हूं, मैं ही सबका केंद्र हूं, मेरे बिना कुछ नहीं हो सकता।' यही भाव दुःख का मूल है।

योग वशिष्ठ में श्रीराम के माध्यम से यह बताया गया है कि अहंकार अनेक रूपों में समस्त जीवों में व्याप्त है। कोई अपने ज्ञान पर गर्व करता है, कोई अपने धन पर, कोई अपने तप पर, कोई अपने त्याग पर, और कोई अपने दुःख तक पर अहंकार कर बैठा है।

अहंकार केवल यह नहीं कि 'मैं महान हूं'; अहंकार यह भी है कि 'मेरे जैसा पीड़ित कोई नहीं', 'मेरी समस्या सबसे बड़ी है', 'मेरे किए हुए उपकार को कोई नहीं समझता।' इस प्रकार अहंकार बहुत सूक्ष्म होकर भी जीवन को विषाक्त कर देता है। हम सोचते हैं कि हमें दूसरों ने दुःख दिया, परन्तु गहराई से देखें तो दुःख का बड़ा कारण हमारा वही 'मैं' है, जो हर घटना में स्वयं को स्थापित करना चाहता है।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि 'मैं कर्ता हूं' यह भाव मानो किसी विशाल काले सर्प के दंश के समान है। जिस क्षण हमने मान लिया कि सब कुछ हम कर रहे हैं, उसी क्षण हम भोक्ता भी बन गए। फिर हर फल हमें ही भोगना होगा सफलता भी, असफलता भी, सम्मान भी, अपमान भी। यही कारण है कि कर्तापन का अहंकार मनुष्य को चैन से जीने नहीं देता। वह निरंतर हिसाब रखता है हमने किसके लिए क्या किया, किसने हमारे लिए क्या नहीं किया, किसने हमारे परिश्रम को पहचाना, किसने नहीं पहचाना। यही सूक्ष्म गणित मन को थका देता है।

भीतर के बंधन

कितनी बार ऐसा होता है कि जब कोई हमारा साथ नहीं देता, तब भीतर से एक स्वर उठता है 'हमने तो उसके कठिन समय में सहायता की थी, उसने हमारे लिए क्या किया?' और यदि हमने किसी की सहायता कर दी, तो दूसरी ओर मन में यह भाव भी आ सकता है कि 'देखो, इतना अच्छा कार्य तो हम ही कर सकते हैं।' एक क्षण के लिए यह संतोष जैसा प्रतीत होता है, पर वास्तव में यह अहंकार का ही दूसरा रूप है। उपकार करके भी यदि भीतर 'मैं' पुष्ट हो रहा है, तो वह सेवा नहीं, सूक्ष्म बंधन है।



शिष्य बनने का अर्थ है - नम्रता और अहंकार से रहित होना। इसी के माध्यम से ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

यह भी ध्रुव सत्य है कि - ज्ञान के द्वारा ही संसार की सारी बाधाओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है। ज्ञान ही शाश्वत् है, ज्ञान के द्वारा ही तो शांति और संतोष प्राप्त हो सकता है।

ज्ञान के बिना सबकुछ अधूरा है और जो अधूरा है वह दुःख की उत्पत्ति करता है और जो पूर्ण है वह सुख और खुशी की उत्पत्ति करता है।

- सद्गुरुदेव नन्द किशोर जी श्रीमाली

यही कारण है कि शास्त्रों ने बार-बार सावधान किया है कि पुण्य भी यदि अहंकार बढ़ा दे, तो वह मुक्ति का नहीं, बंधन का कारण बन जाता है। योग वशिष्ठ में स्वर्ग तक का वर्णन इस दृष्टि से किया गया है कि वहां भी जीव अपने पुण्य के अनुसार सुख भोगता है, परंतु जहां भोग है, वहां तुलना है; जहां तुलना है, वहां स्पर्धा है; और जहां स्पर्धा है, वहां ईर्ष्या और असंतोष छिपे हुए हैं। अतः केवल बाहरी सुख प्राप्त कर लेने से मुक्ति नहीं आती। स्वर्ग जैसी अवस्था भी यदि अहंकार के साथ है, तो वह अंतिम सत्य नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि समस्या वस्तुओं में नहीं, मन की वृत्ति में है।

एवं जब इस प्रकार की भावनाएं बनी हुई हैं, तो निस्संदेह अहंकार भी बना हुआ है। अहंकार शब्द की उत्पत्ति 'अहम्' से होती है। 'अहम्' को कार्य करने का गुमान ही अहंकार है और इस अहंकार को जलाने का उपाय भी अष्टावक्र ही बताते हैं

एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना।

प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव॥

अर्थात् 'मैं शुद्ध बोधस्वरूप हूं' इस निश्चय की अग्नि से अज्ञान के घने वन को जला दो और शोक से मुक्त होकर सुखी हो जाओ।

यह एक साधारण वाक्य नहीं, सम्पूर्ण अध्यात्म का सार है। जब तक हम स्वयं को केवल शरीर, मन, भूमिका, सम्बन्ध, उपलब्धि सफलता या असफलता के रूप में देखेंगे, तब तक अहंकार रहेगा। परंतु जिस क्षण हमने यह समझना आरंभ किया कि हम शुद्ध चेतना हैं, उसी क्षण दृष्टि बदलने लगती है।

मैं ही मैं में डूबा मन

अज्ञान क्या है? अज्ञान यह है कि 'मैं कर रहा हूं, इसलिए मैं महत्वपूर्ण हूं। मेरी इच्छाएं महत्वपूर्ण हैं। मेरी उपलब्धियां ही मेरी पहचान हैं।' यही अज्ञान हमें भीतर से कठोर बनाता है। इसके विपरीत जब हम यह मानते हैं कि 'हम चेतना हैं; जो चैतन्यता हममें है, वही परमात्मा की देन है' तब मन हल्का होने लगता है। फिर कार्य होता है, पर कर्तापन कम होता है। सेवा होती है, पर उसका बोझ नहीं रहता। सम्बन्ध रहते हैं, पर उनसे चिपकाव कम होने लगता है। यही आध्यात्मिक परिपक्वता है।

चेतना-जागरण का सिद्ध मंत्र है -

ॐ ह्रीं मम प्राण देह रोम प्रतिरोम

चैतन्य जाग्रय ह्रीं ॐ नमः

उसका तात्पर्य भी यही है कि भीतर सोई हुई चैतन्यता जाग्रत हो। चेतना कोई साधारण मानसिक अवस्था नहीं है; वह ईश्वरीय ऊर्जा है। वह विशुद्ध है, निर्मल है और हमारी बुद्धि को परिष्कृत करती है। जब बुद्धि परिमार्जित होती है, तब हम वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में देखने लगते हैं। फिर संसार का भ्रम धीरे-धीरे कम होने लगता है।

यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्।

आनन्दपरमानन्दः स बोधस्त्वं सुखं चर॥

यहां अष्टावक्र रस्सी और सांप का अत्यंत प्रसिद्ध उदाहरण देते हैं। अंधेरे में रस्सी पड़ी थी, हमने उसे सांप समझ लिया। भय वास्तविक लगने लगा, शरीर कांप उठा, प्राण सूखने लगे; पर वस्तु तो रस्सी ही थी। भय किससे उत्पन्न हुआ? सत्य से नहीं, भ्रम से। यही दशा हमारे जीवन

की भी है। हम अनेक चिंताओं को यथार्थ मान लेते हैं, जबकि वे अधिकतर मन की कल्पनाएं होती हैं। हम भविष्य की आशंकाओं से कांपते हैं, मानो वे अभी घटित हो रही हों। हम दूसरों की राय से आहत होते हैं, मानो वही हमारी अंतिम पहचान हो। हम जगत को इतना ठोस सत्य मान लेते हैं कि उसमें उलझकर अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाते हैं।

मायाजाल : विचारों की उलझन

यही मायाजाल है। मायाजाल विचार है। उसे इंद्रजाल भी कहा गया है, क्योंकि इंद्रियों के माध्यम से यह जाल फैलता है। जिह्वा को स्वाद चाहिए, शरीर को श्रृंगार चाहिए, मन को प्रशंसा चाहिए, अहंकार को मान चाहिए और आत्मा को शांति चाहिए। समस्या यह है कि हम आत्मा की आवश्यकता को भूलकर इंद्रियों की माँग को ही जीवन का केंद्र बना लेते हैं। चाह मन को भटका देती है। चाह जितनी बढ़ती है, शांति उतनी घटती है। फिर हम सोचते हैं कि कोई बाहरी वस्तु हमें स्थिर कर देगी, जबकि अस्थिरता भीतर से उत्पन्न हो रही होती है।

आत्मा साक्षी है, क्योंकि वह प्रत्येक क्षण हमारे विचारों को देख रही है और उन विचारों से प्रभावित हमारे आचरण को भी देख रही है। आत्मा न तो भाग-दौड़ करती है, न भयभीत होती है, न स्पर्धा करती है। वह केवल देखती है। इसी कारण शास्त्र कहते हैं कि आत्मा साक्षी है। यदि हम इस साक्षीभाव को थोड़ा भी साध लें, तो जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन आ सकता है। तब हम हर विचार के साथ बह नहीं जाएंगे। हम यह देख पाएंगे कि यह क्रोध उठ रहा है, यह भय उठ रहा है, यह तुलना उठ रही है, यह वासना उठ रही है पर हम इनमें से कोई भी नहीं हैं। हम इनके साक्षी हैं।

इसी को अष्टावक्र आगे एक और श्लोक में अत्यंत स्पष्ट कर देते हैं

**मुक्ताभिमानो मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंवदन्तीह सत्येयं वा मतिः सा गतिर्भवेत्॥**

यह श्लोक गहरा मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक सत्य प्रकट करता है। जो स्वयं को मुक्त मानता है, वह मुक्त होने लगता है; जो स्वयं को बंधा मानता है, वह बंधन को और पुष्ट करता है। हमारी मति ही हमारी गति बन जाती है। आज पश्चिमी जगत जिस बात को 'अभिव्यक्ति' कहकर प्रचारित

करता है, उसका मूल संकेत यहां बहुत पहले दिया जा चुका है। मन जिस विचार को बार-बार धारण करता है, वही धीरे-धीरे विश्वास में बदलता है और वही विश्वास जीवन की दिशा तय करता है।

स्वभाव निर्बलता

यदि हम निरन्तर यह सोचते रहें कि हम पीड़ित हैं, असहाय हैं, दुर्भाग्यशाली हैं, तो मन उसी प्रकार के प्रमाण खोजने लगता है। यदि हम यह धारण करें कि हमारे भीतर चेतना है, सामर्थ्य है, ईश्वरीय संरक्षण है, तो वही मन अवसरों को पहचानने लगता है। इसका अर्थ यह नहीं कि बाहरी समस्याएं समाप्त हो जाएंगी; इसका अर्थ यह है कि हमारा सम्बन्ध समस्याओं से बदल जाएगा। हम उनके नीचे दबेंगे नहीं, उन्हें देखकर विचलित नहीं होंगे, बल्कि जागरूक होकर उनका सामना करेंगे।

अंततः अष्टावक्र का संदेश अत्यंत सीधा है विचार ही बंधन है और विचार ही मुक्ति है। यदि विचार मायाजाल बन जाए, तो हम भटक जाते हैं। यदि विचार आत्मबोध की ओर मुड़ जाए, तो वही मार्ग बन जाता है। इसीलिए आवश्यक है कि हम बार-बार स्वयं को स्मरण दिलाएं।

हम केवल भूमिका नहीं हैं, केवल उपलब्धि नहीं हैं, केवल दुःख नहीं हैं, केवल इच्छा नहीं हैं। हम चेतना हैं, साक्षी हैं, शुद्ध बोध हैं।

**आत्मा साक्षी विभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिदक्रियः।
असङ्गो निस्पृहः शान्तो भ्रमात् संसारवानिव॥**

आत्मा व्यापक है, पूर्ण है, एक है, मुक्त है, चैतन्य स्वरूप है, अक्रिय है, असंग है, निस्पृह है, शांत है। केवल भ्रम के कारण वह संसार में फंसी हुई प्रतीत होती है।

इसलिए साधना का सार बाहर भागना नहीं, भीतर जागना है। जिस दिन यह जागरण प्रारम्भ हो जाता है, उसी दिन से जीवन का भार हल्का होने लगता है। तब हम संसार में रहते हुए भी संसार से परे होने का स्वाद चखने लगते हैं।

यही वास्तविक स्वतंत्रता है, यही शांति है, यही आनन्द है।

